

---

## इकाई 8 दलित परिप्रेक्ष्य\*

---

### संरचना

- 8.0 उद्देश्य
- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 दलित की परिभाषा: एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
- 8.3 भिन्न परिप्रेक्ष्य की मांग
- 8.4 'दलित परिप्रेक्ष्य' का सैद्धांतिक मूलाधार
- 8.5 दलित परिप्रेक्ष्य की परिभाषा
  - 8.5.1 दलित परिप्रेक्ष्य: वर्तमान वास्तविकता और दलितों के विषय में पुस्तक अवलोकन
  - 8.5.2 दलित परिप्रेक्ष्य: एक 'क्षेत्रीय अवलोकन' (फील्ड व्यू)
  - 8.5.3 दलित समाज को समझने के लिए एक रूपरेखा के रूप में दलित परिप्रेक्ष्य
- 8.6 सारांश
- 8.7 संदर्भ

---

### 8.0 उद्देश्य

---

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्न बातें जान सकेंगे:

- दलितों पर समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य;
- 'दलित परिप्रेक्ष्य' का सैद्धांतिक मूलाधार; और
- दलित परिप्रेक्ष्य के विभिन्न अर्थ।

---

### 8.1 प्रस्तावना

---

हिंदू सामाजिक व्यवस्था ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्र वर्णों में विभाजित है और इसमें एक पाँचवाँ समूह भी है, हालांकि अभी तक यह वर्णानुक्रम का हिस्सा नहीं है, इसे हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में शामिल किया जाता है जिसे अस्रष्य (अछूत) कहा जाता रहा है।

इनके निश्चित जातीय नामों जैसे चमारों, दुशाद, महारों, मातंगों, वानकर, मलस, मदिगों, होलयारों, पुलयाओं, चकलियारों, नामशूद्र आदि के आलावा, यदि केवल कुछ एक जातियों के नाम लें तो उन्हें चांडालों, अवर्णों, अछूत, परियाह, नामशूद्र, आदि-द्रविड़, आदि-हिंदू, दबे-कुचले वर्ग, दलित हिंदू आदि जैसे विभिन्न नामों से भी, अलग-अलग समय में, देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जाना जाता था। ये पूर्व उल्लेखित चिन्हक इन जातियों को या तो हिंदू समाज के पवित्र ग्रंथों या वर्णानुक्रम में तथाकथित उच्च जातियों द्वारा दिया गया था। हालांकि, भारत सरकार अधिनियम -1935 के पारित होने के पारवहन के बाद अनुसूचित जाति उनकी कानूनी पहचान बन गई क्योंकि इन जातियों को एक अनुसूची में डाल दिया गया था। स्वतंत्रता के बाद अनुसूचित जाति उनकी संवैधानिक पहचान बन गई क्योंकि संविधान ने कुछ नियत संवैधानिक अधिकार प्रदान करने के लिए उनकी पहचान की जो विशिष्टतः उनके लिए बनाए गए थे। भारतीय संविधान अनुच्छेद -341 के तहत जातियों की

---

\*यह इकाई प्रो. विवेक कुमार द्वारा लिखी गई है।

अनुसूची की एक परिभाषा देता है। तदनुसार, वर्तमान में, अनुसूचित जातियों के रूप में घोषित 1038 जातियां हैं और आज ये सब जातियां मिलकर भारतीय आबादी का लगभग 16 प्रतिशत हिस्सा बनाती हैं। परन्तु, महाराष्ट्र में 1970 के दशक में दलित पैथर्स के नाम से आयोजित एक राजनीतिक दल के उभरने के बाद, वे दलितों के रूप में प्रचलित हुए। लेकिन, इस 'दलित' शब्द के उपयोग में अभी भी बहुत भ्रांतियाँ हैं क्योंकि समाज के विभिन्न वर्ग अपनी आवश्यकताओं और समझ के अनुसार इसका उपयोग करते हैं। हमारे समाज के कुछ वर्ग दलित शब्द का प्रयोग आर्थिक रूप से गरीब लोगों के लिए करते हैं; कुछ लोग इसका प्रयोग आदिवासियों के लिए करते हैं और अभी भी कुछ अन्य लोग इसे परस्पर या एक दुसरे के स्थान पर गरीब लोगों, आदिवासियों और पूर्व-अछूतों के लिए करते हैं। अतः प्रारंभ में ही हमें 'दलित' शब्द को सामाजिक रूप से परिभाषित करना होगा।

## 8.2 दलित की परिभाषा: एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

'दलित' शब्द की कोई निश्चित सामाजिक परिभाषा नहीं है। समाजशास्त्रियों ने यथाशक्ति दलित शब्द का सर्वोत्तम रूप में साहित्यिक या सांस्कृतिक अर्थ विकसित किया। इसके अतिरिक्त, उन्होंने दलित शब्द की राजनीतिक परिभाषा का भी उपयोग किया जैसा की 1973 में 'दलित पैथर्स' नाम के एक राजनैतिक दल ने अपने घोषणापत्र में प्रतिपादित किया (मुरुगकर 1991)। दलित शब्द की परिभाषा विकसित करना क्यों महत्वपूर्ण है? ऐसा इसलिए क्योंकि दलित शब्द की बिना किसी स्पष्ट और सटीक परिभाषा के जनसंख्या की प्रकृति और संयोजना को निश्चित करना कठिन हो जाता है जिसका यह विशेष रूप से संकेत करती है। दलितों के पारिभाषिक शब्द द्वारा संबोधित की जाने वाली जनसंख्या की सीमाओं को सुनिश्चित करना वास्तव में कठिन है क्योंकि 'दलित पैथर्स' ने एक वर्ग की परिभाषा को प्रतिपादित किया, उनके अनुसार, दलितों में अनुसूचित जाति (एससी), अनुसूचित जनजाति (एसटी), भूमिहीन मजदूर, गरीब किसान, महिलाएं और वे सभी जिनका राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक रूप से शोषण किया गया, के सदस्य शामिल थे। (मुरुगकर 1991: 237)।

कुमार (2009) ने दलित शब्द को सामाजिक रूप से निम्नलिखित विशेषताओं के अनुसार परिभाषित करने की कोशिश की है :

- 1) हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में विशिष्ट संरचनात्मक स्थान।
- 2) संरचनात्मक स्थान के कारण उनके द्वारा सहन किया गया संचयी सामाजिक बहिष्कार (तालिका देखें)।
- 3) सामाजिक बहिष्कार का लम्बा इतिहास।
- 4) जाति के आधार पर अपरिवर्तनीय सामाजिक स्थिति।
- 5) संरचनात्मक स्थिति के कारण चेतना के विकसित होने के सूत्र सामाजिक बहिष्कार की ऐतिहासिकता से जुड़े हैं।
- 6) बुद्ध, रविदास, अम्बेडकर आदि जैसे उनके अपने महापुरुषों का विकास, उनके अभिवादन प्रतीक – जय भीम, और उनके अपने उत्सव जो जातीय, भाषाई और क्षेत्रीय सीमाओं को भी पार करते हैं।

ऊपर दी गई चारित्रिक विशेषताओं को विस्तार पूर्वक प्रस्तुत करने के लिए, निम्न तालिका हमें दलितों द्वारा भुगते गए संचयी सामाजिक बहिष्कार के प्रकार और गहनता का एक अनुमान देती है –

| बहिष्कार के प्रकार     | बहिष्कार की प्रकृति  |
|------------------------|--|
| 1 सामाजिक बहिष्कार     | <p>क ऋग्वेद में अस्तित्व से इनकार</p> <p>ख वर्ण योजना में कोई उल्लेख नहीं</p> <p>ग पवित्र जनेऊ के अधिकार की अस्वीकृति</p> <p>घ आश्रमों से बहिष्कार</p> <p>ड धर्म का कोई निर्धारण नहीं</p> <p>च पुरुषार्थ से बहिष्कार</p> <p>छ पूर्वनियति के कारण बहिष्कार</p>  |
| अस्पृश्यता की प्रथा    | <p>क आवासीय बहिष्कार (गावों के दक्षिण में)</p> <p>ख स्वीकृति और पानी प्राप्त करने से वंचित</p> <p>ग इनसे भोजन स्वीकार करने से इनकार</p> <p>घ साथ बैठने पर प्रतिबंध</p> <p>ड साथ में उत्सव मनाने पर प्रतिबंध</p> <p>च घरों में प्रवेश करने पर प्रतिबंध</p> <p>छ रसोईघर में प्रवेश पर प्रतिबंध</p> <p>ज मंदिरों में प्रवेश पर प्रतिबंध</p> |
| अत्याचार               | <p>क दलित महिलाओं का बलात्कार (एक जातीय व्यवहार)</p> <p>ख दलित की हत्या</p> <p>ग गंभीर चोट</p> <p>घ आगजनी/लूट</p> <p>ड समाज और पवित्र ग्रंथों में उपहास</p> <p>च सवर्णों के समान कपड़े/जूते/पगड़ी आदि पहनने पर प्रतिबंध</p>  |
| खतरनाक/निन्दित व्यवसाय | <p>क मानव मल की सफाई</p> <p>ख मैला ढोना/नालियाँ साफ करना</p> <p>ग दलित महिलाओं द्वारा दाई का काम करना</p> <p>घ शव हटाना</p> <p>ड कब्र खोदना/मृतकों को जलाना/मृत्यु के समय ढोल बजाना</p> <p>च सूअर-बाड़े/कसाई-बाड़े/ताड़ी का उपभोग करना</p> <p>छ गंदे कपड़े धोना</p> <p>ज शादी और अंतिम संस्कार के जुलूस निकालने की मनाही</p>             |

|   |                   |  |
|---|-------------------|--|
| 2 | राजनैतिक बहिष्कार | क चुनावी प्रक्रियाओं में भाग लेने की मनाही<br>ख निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में भागीदारी की मनाही   |
| 3 | धार्मिक बहिष्कार  | क धर्म की विभिन्न संरचनाओं से बहिष्कार<br>ख और बहिष्कार के लिए धर्म की तर्कसंगति   |
| 4 | आर्थिक बहिष्कार   | क व्यवसाय की स्वतंत्रता की मनाही<br>ख संसाधनों को प्राप्त करने की मनाही  |
| 5 | शैक्षिक बहिष्कार  | क शैक्षिक केंद्रों के स्वामित्व से बहिष्कार<br>ख ज्ञान साधक बनने से बहिष्कार<br>ग ज्ञान दाता बनने से बहिष्कार<br>घ पाठ्यक्रम से बहिष्कार |
| 6 | भीतरी शत्रु       | क समान वर्ण के उत्पीड़क<br>ख समान धर्म के उत्पीड़क   |

संदर्भ : कुमार 2009: भारतीय मीडिया और दलित के सशक्तिकरण में मीडिया की भूमिका, कम्यूनिकेटर: ए जनरल ऑफ मास कम्यूनिकेशन, अंक: XLI नं.1, जनवरी, दिसम्बर 2006

दलित की पहचान को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इस बात पर जोर देना होगा कि दलित निरंतर बढ़ते सामाजिक बहिष्कार को झेलते हैं जो व्यक्ति के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों जैसे आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और शैक्षिक आदि में फैला है। बहिष्कार का हजारों वर्षों का एक लम्बा इतिहास है और जो अपरिवर्तनीय है फिर चाहे इन समूहों के सदस्यों ने आर्थिक या शैक्षिक गतिशीलता प्राप्त कर ली हो या फिर विदेशों में जा बसे हों (कुमार 2004; 2009)। यह संरचनात्मक स्थिति, बढ़ते बहिष्कार, बहिष्कार की लम्बी ऐतिहासिकता, अपरिवर्तनीय सामाजिक स्थिति इन समूहों के सदस्यों को जाति, भाषाई और क्षेत्रीयता की सीमाओं को भुलाकर एकजुट करती है। इसके अतिरिक्त उपरोक्त विषयों के कारण उन्होंने एक विशेष प्रकार की चेतना को विकसित किया जिसने उन्हें बुद्ध, अम्बेडकर आदि जैसे उनके स्वयं के आदर्शों, उनके स्वयं के अभिवादन सूचकों और बुद्ध जयंती या बाबासाहेब की जयंती और पुण्यतिथि जैसे स्वयं के त्योहारों को विकसित करने के लिए बाध्य किया।

### 8.3 भिन्न परिप्रेक्ष्य की मांग

सामान्य बोलचाल में अनुसूचित जाति/दलित उन लोगों को समझा जाता है जो किसी प्रकार की विकलांगता से पीड़ित हैं, जिन्हें राज्य संरक्षण और आरक्षण नीति और छात्रवृत्ति जैसे उपायों की आवश्यकता होती है। यह परिप्रेक्ष्य उन्हें केवल राज्य संरक्षण के निष्क्रिय धारक के रूप में दर्शाता है। हालांकि, दलित समुदाय के एक गहन अध्ययन और समाजशास्त्रीय विश्लेषण से पता चलता है कि उनकी अपनी संस्था, अपनी संस्कृति, आदर्श, संगठन, आंदोलन, विरोध की शैली और वैश्विक दृष्टिकोण है। अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वे भी किसी अन्य सामाजिक समूह की तरह लिंग, आयु, भाषा, धर्म और क्षेत्र के आधार पर आंतरिक रूप से विभेदित हैं। लेकिन समाजशास्त्रीय साहित्य में उनकी अस्तित्वगत और अनुभवात्मक वास्तविकताओं की एक सामान्य अज्ञानता है। उदाहरण के तौर पर, परवथम्मा (1978: 91-96) यह तर्क देते हैं कि, "श्रीनिवास के सभी लेखन में, ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण मूल्यों की परस्पर तुलना की गई है कृ तीसरा समूह, हरिजन, जो की अपेक्षाकृत बहुत बड़ा

है, तथापि यह इन चर्चाओं में शामिल ही नहीं है। इसी प्रकार, ओमन, (2007: 101) तर्क देते हैं कि, "उपलब्ध सभी साक्ष्यों से पता चलता है की भारतीय समाजशास्त्री और सामाजिक नृविज्ञानियों ..... ने बड़े पैमाने पर निम्न तबके और पीड़ित लोगों की सामाजिक वास्तविकता की उपेक्षा की है .... खासकर एस सी की।" ओमन आगे कहते हैं कि, "यह केवल मानव क्रियाकलापों के अध्ययन के पतन का मामला नहीं है अपितु यह सैद्धांतिक उपेक्षा का भी मामला है: जो ज्ञानात्मक अंधकार का एक उत्पाद है" (वही)। इसी धारा में रेगे (2006) सामाजिक विज्ञान के पाठ्यक्रम में दलित बौद्धिकता के विलोप और दूसरा सामाजिक विज्ञान में दलित स्त्रीवादी आलोचनाओं के साथ गहन बौद्धिक संलग्नता की कमी पर प्रकाश डालते हैं। कुमार (2010:374) ने समाजशास्त्र के विषय में दलितों की संवेदनशीलता की कमी, विविधता की उपलब्धता और छद्म समवेशियता के चित्रण द्वारा समाजशास्त्रीय पाठ्यक्रम से दलितों के ज्ञानात्मक अंधकार की धारणा को और अधिक समस्यास्पद किया।

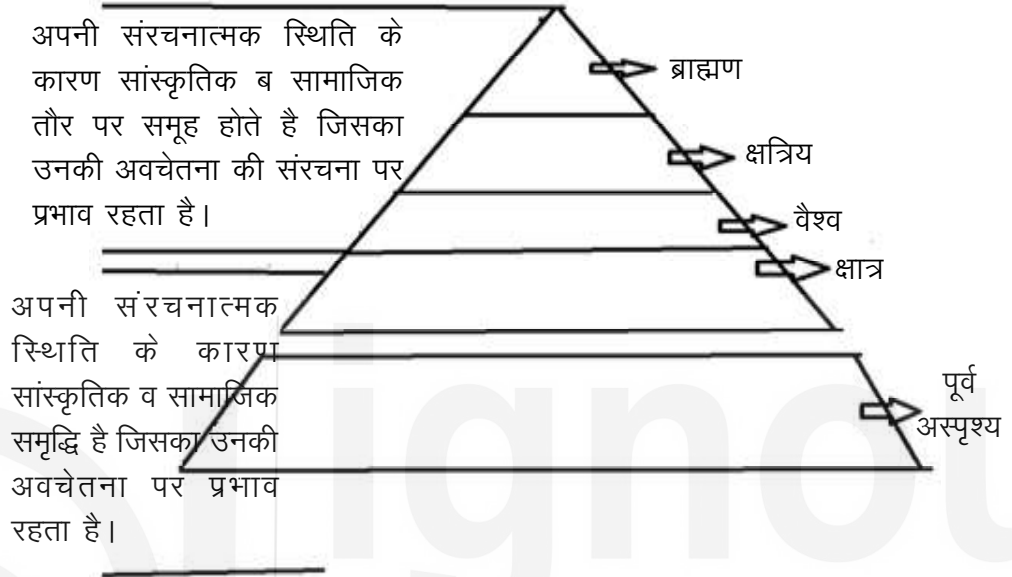
#### 8.4 'दलित परिप्रेक्ष्य' का सैद्धांतिक मूलाधार

'दलित परिप्रेक्ष्य' से प्रारम्भ करें तो यह मिल्स (1957), फ़रायर (1970), बर्गर और लकमैन (1967) और पी. बॉर्डियू (1986) जैसे अनेकों समाजशास्त्रियों से अपनी शक्ति प्राप्त करता है। प्रारम्भ में मिल्स (1959:12) तर्क देते हैं कि समाजशास्त्रीय कल्पना हमें इतिहास, जीवन वृत्तांत और समाज के भीतर इन दोनों के संबंधों को समझने में सक्षम बनती हैं... कोई भी सामाजिक अध्ययन ऐसा नहीं है जिसने अपने इतिहास के जीवन-वृत्तांत की समस्याओं और समाज के भीतर इन दोनों के अंतर्संबंधों पर पुनः विचार किए बिना अपनी बौद्धिक यात्रा पूरी की हो।" इसके आलावा वे यह भी कहते हैं कि, "सामाजिक विज्ञान इतिहास के जीवन-वृत्तांत की समस्याओं और सामाजिक प्रणाली के भीतर इनके परस्पर संबंधों पर कार्य करता है जो व्यक्ति के समुचित अध्ययन के समन्वय बिंदु हैं" (1957:159) ..... (और करना) ".... अंतर... 'परिवेश की निजी समस्याओं' और 'सामाजिक संरचना के सार्वजनिक मुद्दों' के बीच" (मिल्स 1957:14) और यह समाजशास्त्रीय कल्पना शक्ति का अभिन्न अंग भी है। इसके अतिरिक्त 'ज्ञान के समाजशास्त्र' से भी यह वैधता प्राप्त करता है। बर्गर और लकमैन (1967:4), के अनुसार, ..... "समाजशास्त्र का संबंध मानव विचार और उस सामाजिक संदर्भ के बीच के संबंध से है जिसके भीतर वह उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ज्ञान का समाजशास्त्र एक अधिक सामान्य समस्या का समाजशास्त्रीय चिंतन केंद्र निर्मित करता है, जो अस्तित्वगत निर्धारण है..... इस प्रकार के विचारों का।"

यदि हम विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा दिए गए पूर्वोक्त विचारों को लागू करते हैं तो हम यह तर्क दे सकते हैं कि व्यक्तियों के ऐसे समूह हैं जिनकी आत्मकथाएँ, इतिहास और भारतीय सामाजिक संरचना में उनका परस्पर व्यवहार एक बहुत ही भिन्न अस्तित्वगत और अनुभवात्मक अचल सम्पत्ती उत्पन्न करता है। हम सांस्कृतिक और सामाजिक पूंजी (1986) की बॉर्डियू की धारणा के माध्यम से हम अपनी बात को और अधिक सिद्ध कर सकते हैं। बॉर्डियू (1986) के अनुसार, "सामाजिक संसार एक संग्रहित इतिहास है .... सामाजिक संसार की संरचना और कार्य पद्धति की गणना करना यह वास्तव में असंभव है जब तक कि कोई पूंजी को इसके सभी रूपों में पुनः परिचय नहीं कराताकृयह उस क्षेत्र पर निर्भर करता है जिसमें यह कार्य करता हैकृ पूंजी स्वयं को तीन मूलभूत रूपों में प्रस्तुत कर सकती है; आर्थिक पूंजी के रूप में, जो तत्काल और सीधे मुद्रा में परिवर्तित हो सकती है और संपत्ति के अधिकारों के रूप में संस्थागत हो सकती है; सांस्कृतिक पूंजी के रूप में ..... जो तीन रूपों में मौजूद है: सन्नहित अवस्था में अर्थात् मन और शरीर के लंबे समय तक चलने वाले स्वभाव के रूप में, और संस्थागत अवस्था में, जो एक प्रकार का वस्तुकरण है जिसे अलग रखा जाना चाहिए.....; और सामाजिक पूंजी के रूप में ..... जो आपसी परिचय और मान्यता

के कम या अधिक संस्थागत रिश्तों के एक टिकाऊ तंत्र का कुल योग है। या दूसरे शब्दों में, समूह में सदस्यता के लिए-जो प्रत्येक सदस्य को सामूहिक स्वामित्व वाली पूंजी की सहायता प्रदान करता है।”

बॉर्डियू की अवधारणाओं को हिंदू सामाजिक व्यवस्था पर लागू किया जा सकता है जैसा कि नीचे दिये गए चित्र में दिखाया गया है जो उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक पूंजी के अनुसार विभिन्न समूहों की सटीक स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है।



#### चित्र द्वारा प्रदर्शित सांस्कृतिक और सामाजिक पूंजी से संचयन और बहिष्करण

यदि हम ज्ञान के उत्पादन और अनुसंधान के क्षेत्र में उपरोक्त संरचना का संचालन भारतीय समाज में करते हैं तो हम क्या पाते हैं? हम यह पाते हैं कि व्यक्ति की संरचनात्मक अवस्थिति और ज्ञान के उत्पादन के बीच एक आंतरिक संबंध है। ऐसा इसलिए है क्योंकि व्यक्ति का सामाजिक-ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिवेश में समाजीकरण होता है जो उसकी चेतना को आकार देता है। इस चेतना से ज्ञान का उत्पादन होता है। इसलिए, यह आसानी से कहा जा सकता है कि दलितों की संरचनात्मक अवस्थिति आंतरिक रूप से उनके ज्ञान के उत्पादन से जुड़ी हुई है जिसे 'दलित परिप्रेक्ष्य' कहा जा सकता है। अंतिम लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार के परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता है क्योंकि फ्रेयर बलपूर्वक तर्क देते हैं कि, "शोषितों का शिक्षाशास्त्र .... शोषितों के द्वारा उत्पीड़न और उसके कारणों को परावर्तन की वास्तु बनाता है।" हालांकि फ्रेयर (1970: 36) का यह भी तर्क है कि, ".... शोषितों का शिक्षाशास्त्र उत्पीड़क द्वारा विकसित या अभ्यस्त नहीं किया जा सकता है" (1970: 30-36) इसे शोषितों द्वारा ही विकसित किया जाना चाहिए और इसी कारण दलित परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता है।

सामान्य सैद्धांतिक ढांचे के अलावा कुछ भारतीय समाजशास्त्रियों ने परिप्रेक्ष्य की तर्कसंगतता को रेखांकित किया है जिसे दलित परिप्रेक्ष्य के समकक्ष माना जा सकता है। ओमन (2007: 104-105) के अनुसार, "यदि अनुभव और ज्ञान सामाजिक विज्ञान में अटूट रूप से जुड़े हुए हैं, तो ज्ञान के उत्पादन की दृष्टि से सामाजिक संरचना में ज्ञान के निर्माता, शोधकर्ता की अवस्थिति महत्वपूर्ण है। अर्थात्, अवस्थिति की राजनीति के कारण निचले स्तर से भी परिप्रेक्ष्य आवश्यक है। ज्ञान के उत्पादन की प्रक्रिया और सामाजिक संरचना में किसी की अवस्थिति से निकलने वाले फायदे निरपवाद रूप से जुड़े होते हैं।" सिंह (1986) ने

अनुसूचित जातियों के मुद्दों को समझने के लिए विभिन्न परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता पर ध्यान दिया था। उन्होंने तर्क दिया कि, "एक महत्वपूर्ण वैचारिक दृष्टिकोण जो अब अनुसूचित जातियों के बीच अपवंचन की व्याख्या के रूप में उभरा है ..... व्याख्या के लिए पारंपरिक ब्राह्मणवादी मॉडल का उपयोग किया गया है ..... जो जातिगत शोषण और उत्पीड़न को सही ठहराने का प्रयास है। इसलिए, भारत में अनुसूचित जाति के लिए पद्धतिगत दृष्टिकोण विकसित करने के उद्देश्य से पारंपरिक सांस्कृतिक विचारधारा पर पुनः विचार करने या यहां तक कि इसे उल्टा कर देखने की आवश्यकता है (सिंह 1994: 94)।

इसके अलावा, डेल्हीवाले (2005 (सं।)) इस बात की वकालत करते हैं कि समाजशास्त्री भारतीय समाज को एक परिप्रेक्ष्य के माध्यम से समझते हैं, जिसमें बुद्ध, जोतिबा फुले, छत्रपति शाहूजी महाराज, बी. आर. अंबेडकर, ई. वी. रामासामी नायकर (पेरियार) और बहिष्कृत वर्गों से संबंध रखने वाले समाज सुधारकों और नेताओं के समर्थकों के परिप्रेक्ष्य शामिल हैं। भारतीय समाज के विषय में उनके विचारों को साँझा करते हुए डेल्हीवाले ने इसे 'गैर-ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य' कहा है। इसी धारा में मणि (2005) यह भी तर्क देते हैं कि सामाजिक-धार्मिक वैश्विक दृष्टि और जाति की विचारधारा की बेहतर समझ के लिए हमें वेद और वैदिक धर्म के इर्द-गिर्द बुनी गई कल्पित कथाओं और मिथ्याबोध के मकड़जाल को साफ़ कर भारतीय इतिहास को गैर-ब्राह्मणिकरण करना होगा। अतः, यह दर्शाने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि दलित और अन्य पिछड़े वर्ग दलितों को समझने के लिए एक नए परिप्रेक्ष्य की मांग कर रहे हैं।

## 8.5 दलित परिप्रेक्ष्य की परिभाषा

परिप्रेक्ष्य का अर्थ है, 'चीजों या घटनाओं को आंकने और समझने में एक विशिष्ट दृष्टिकोण' (वैब्सटार्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी 1991: 1008)। तदनुसार, दलित परिप्रेक्ष्य सामाजिक वास्तविकता को आनुभविक रूप से समझने और विश्लेषण करने के लिए एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण लाखों दलितों के अनुभवों और ज्ञान चेतना के विशिष्ट मार्ग से उत्पन्न हुआ है जिसे उनकी रचनात्मक अवस्थिति और चेतना आकार देती है, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है।

दलित परिप्रेक्ष्य के काम से काम चार कार्य हैं। जो इस प्रकार हैं-

- क) यह पुस्तक अवलोकन और क्षेत्र सर्वेक्षण की सहायता से दलितों के विषय में मौजूदा सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकता को समझने और विश्लेषण करने का प्रयास करता है।
- ख) यह अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा स्थापित दलितों के बारे में वास्तविकता को समझने और विश्लेषण करने का प्रयास करता है।
- ग) यह समग्र रूप से समाज के विषय में मौजूदा सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकता को समझने और उसका विश्लेषण करने का प्रयास करता है।
- घ) यह हमें दलित समाज का अध्ययन करने के लिए एक व्यापक रूपरेख प्रदान करता है।

दलित परिप्रेक्ष्य तब विकसित होना शुरू हुआ जब वे अपने स्वयं के समुदाय की प्रकृति और विषय वस्तु का विश्लेषण करने लगे। इसने अपने स्वयं के समुदाय की दुर्दशा को उजागर करने की कोशिश की और मौजूदा शासन से सहायता की मांग की। बाद में, इसने दलितों के अलावा अन्य जातियों और समुदायों से संबंधित सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित

भारतीय समाज और दलितों के विषय में मौजूदा साहित्य की आलोचनात्मक रूप से जांच की। तीसरा दलित परिप्रेक्ष्य भी पूरे समाज की मौजूदा सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकता का विश्लेषण करने की कोशिश करता है। अंत में मुख्यतः यह हमें समग्र रूप से दलित समाज की प्रकृति और संभावनाओं को समझने के लिए एक सामान्य रूपरेखा भी प्रदान करता है। दलित परिप्रेक्ष्य के ये चार पहलू एक दूसरे पर आश्रित और परस्पर संबद्ध हैं। वे स्वतंत्र रूप से स्वयं कोई अस्तित्व नहीं रखते हैं। हालाँकि, इस प्रकार की समझ और विश्लेषण 'दलित परिप्रेक्ष्य' के सटीक शीर्षक के तहत आसानी से उपलब्ध नहीं है, तथापि कई सामाजिक वैज्ञानिकों ने विभिन्न शीर्षकों के तहत इन पूर्वोक्त पहलुओं पर चर्चा की है। उदाहरण के लिए, 'निचले स्तरों का परिप्रेक्ष्य' को एक उपसर्ग के रूप में कई समाजशास्त्रियों (मेनचर 1974, ओमन 2007, राम 2010, कुमार 2014) द्वारा प्रयोग किया गया है। कुछ अन्य लोगों ने "गैर-ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य" (दहिवले 2005) के विषय में बात की है और अभी भी कुछ अन्य लोगों ने 'इतिहास के गैर-ब्राह्मणीकरण' (मणि 2005) के लिए तर्क दिया है। कोई भी इन सभी विचारों को तुलनात्मक रूप से 'दलित परिप्रेक्ष्य' के समान मान सकता है। इस संदर्भ में राम (2010) को ध्यान में रखना दिलचस्प होगा जो इस बात को दोहराते हैं कि, "...निचले स्तरों का परिप्रेक्ष्य एक दृष्टिकोण है जो उन लोगों के विचारों का समर्थन करता है जिन्हें सामाजिक पदानुक्रम के निचले स्तर पर रखा जाना स्वीकार किया जाता है वे शूद्र या अछूत हैं... ये विचार विशेष रूप से उस सब से संबंधित है जो उन्होंने इस वर्षों के दौरान अनुभव किया है... और ..... निस्संदेह भारतीय समाज पर अंबेडकर के विचारों और दर्शन से इसे बल मिला है" (राम 2010: 38)।

### 8.5.1 दलित परिप्रेक्ष्य: वर्तमान वास्तविकता और दलितों के विषय में पुस्तक अवलोकन

दलित परिप्रेक्ष्य का तर्क है कि जाति व्यवस्था के विषय में पुस्तकों के अनुसार केवल चार वर्ण हैं और मनु स्मृति का तर्क है कि पांचवा वर्ण नहीं हो सकता। इसके आलावा यह सवाल भी उठता है कि घुरे (1979: 307) और डूमोंट (1999: 68) जैसे समाजशास्त्रियों और नृविज्ञानियों द्वारा दलितों को पांचवें वर्ण के रूप में क्यों वर्गीकृत किया गया है। वे इंगित करते हैं कि हिंदू सामाजिक व्यवस्था की योजना के भीतर एक समस्या उत्पन्न होती है जो वर्ण-आश्रम-धर्म द्वारा निर्मित होती है। इसका अर्थ यह है कि मानकीय तौर पर लोगों के चार वर्ग हैं, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन चार वर्णों में से केवल तीन वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के पुरुष सदस्य – को अपने पूर्ण जीवन काल में चार चरणों का पालन करने के लिए निर्धारित किया गया है- अर्थात् ब्रम्हचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास; जिन्हें सम्मिलित रूप से आश्रम कहा जाता है। इसके अलावा, उन्हें विभिन्न कर्तव्य (धर्म) भी सौंपा गया है (माथुर 1991: 68, घुरे 1979 48-51)। दलित परिप्रेक्ष्य इस बात की जाँच करता है कि यदि दलित पांचवां वर्ण है तो दलित समुदाय के सदस्य कौन से आश्रम का अनुसरण कर सकते हैं और कौन से धर्म (कर्तव्य) का वे पालन कर सकते हैं और मुख्यधारा के समाजशास्त्री ने पूर्वोक्त प्रश्न का कोई उद्देश्यपूर्ण निष्पक्ष उत्तर क्यों नहीं दिया है। यह परिप्रेक्ष्य इस बात पर दृढ़ता से बल देता है कि यद्यपि इस बात को साबित करने के लिए दलितों द्वारा लंबे समय तक संघर्ष किया गया है कि वे हिंदू सामाजिक व्यवस्था का हिस्सा नहीं हैं और उनकी अलग और स्वतंत्र स्थिति है (ओमवेट 1994: 122, गोप्तु 1993, लिच 1974, सिंह 2000) इसके पश्चात् अभी तक भी समाजशास्त्रियों ने दलितों को हिंदू सामाजिक व्यवस्था में शामिल किया है। यहाँ दलित परिप्रेक्ष्य सामाजिक वैज्ञानिकों से प्रश्न करता है कि हिंदू सामाजिक व्यवस्था एक सामाजिक परिकल्पना है या वास्तविकता (कुमार 2010: 360-380) और "क्या हिंदू सामाजिक व्यवस्था में दलितों का समावेश एक अकादमिक है या यह एक राजनीतिक अभिक्रम है"? (कुमार 2005: 520)।



### 8.5.2 दलित परिप्रेक्ष्य: एक 'क्षेत्रीय अवलोकन' (फील्ड व्यू)

पुस्तकों में हिंदू सामाजिक व्यवस्था में दलितों की मौजूदा स्थिति को उजागर करने के अलावा, दलित परिप्रेक्ष्य यह भी विश्लेषण करने की कोशिश करता है कि कैसे और क्यों उनके मूल्यों, वैश्विक दृष्टिकोण, आदर्श नायकों, आंदोलनों आदि को भारतीय समाज के 'फील्ड व्यू' में स्थाह कर दिया गया। यह इस बात पर जोर देता है कि भारतीय ग्रामों के अध्ययनों में भी उनके दिन-प्रतिदिन के कष्टों, उपहास, गंदगी, मलीनता और गरीबी पर कभी चर्चा नहीं की गई। मेटकाफ के वाक्यांश का समर्थन करने के लिए भारतीय गांवों को 'छोटे गणराज्यों' के रूप में मनाया गया। भारतीय गांवों पर श्रीनिवास (1978) और बेटिल (1971) के अध्ययन एकता और परस्पर-निर्भरता की धुरी पर आधारित थे। दलित परिप्रेक्ष्य मुख्यधारा के समाजशास्त्रियों के इस दृष्टिकोण को त्रुटिपूर्ण घोषित करता है। उदाहरण के लिए अम्बेडकर के अनुसार जिन्होंने अपने रिश्तेदारों को गांवों में रहते देखा था तर्क देते हैं कि, "इस गणराज्य में लोकतंत्र के लिए कोई जगह नहीं है। यहाँ समानता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के लिए कोई जगह नहीं है। भारतीय गाँव गणतंत्र का एक अत्यंत प्रतिवाद है" (अम्बेडकर 1989: 19: 26)। दूसरी ओर, परवथम्मा इस बात पर प्रकाश डालती है कि, "श्रीनिवास रेडक्लिफ ब्राउन और दुर्खिम के संतुलन मॉडल.... गाँव की एकजुटता के सिद्धांत के प्रति दृढ़ता से प्रतिबद्ध दिखाई देते हैं- दिन-प्रतिदिन के जीवन में अक्सर परस्पर विरोधी हितों द्वारा शासित होते हैं ताकि दोनों अंतर-जातीय के साथ साथ अंतः-जातीय संबंधों में परिवर्तन के द्वारा चिह्नित किया जाता हैकृ एकजुटता सबसे अस्थायी और स्थितिजन्य है" (परवथम्मा 1978: 95)। इसके अलावा, अरुण (2007) चित्रित करते हैं कि चेरी (दलित बस्ती) और उर (तथाकथित उच्च जाति आवासीय क्षेत्र) के बीच अभी भी स्थान-संबंधी अंतर है और यहां तक कि दलितों और तथाकथित ऊंची जाति के लोगों के दफन स्थल अलग-अलग हैं। गाँव में तथाकथित ऊंची जाति के मौजूदा आधिपत्य को लिखते हुए आज भी अरुण इस बात पर शोक प्रकट करते हैं कि, "वे (दलित) अभी भी कमीज़ नहीं पहनते हैं और जब वे गाँव की उच्च जाति के लोगों से मिलते हैं तो वे सम्मान के रूप में अपना तौलिया अपने कंधे से हटा देते हैं - उसी तरह बुजुर्ग परियार महिलाएँ उच्च जातियों के सामने ब्लाउज और चप्पल नहीं पहनती हैं" (अरुण 2007: 38)। रमैया (2010) भी मुख्यधारा के समाजशास्त्रियों की तुलना में भारतीय गाँव की एक बहुत अलग तस्वीर प्रस्तुत करता है।

तदनुसार, दलित आत्मकथाएँ एक ही गाँव के निवासी के बीच स्थान-संबंधी, सांस्कृतिक और व्यावसायिक आदि अंतरों को चित्रित करती हैं। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि का (2003:1) उनके गाँव का वर्णन इस मामले में एक महत्वपूर्ण बिंदु है। उनके अनुसार, "तालाब के किनारे चूहड़ों के घर थे। गाँव की सभी महिलाएँ, ..... तालाब के किनारे इन घरों के पीछे मलमूत्र त्यागने के लिए..... बैठ जाती..... वहाँ हर जगह मल बिखरा हुआ था... संकरी गलियों में घूमते सूअर, नग्न बच्चे, कुत्तों का रोज़ लड़ना, यह वातावरण था- अगर जाति व्यवस्था को आदर्श सामाजिक व्यवस्था कहने वाले लोगों को इसमें एक या दो दिन रहना पड़े .... तो मैं वे अपना मन बदल लेंगे। इसी समान धारा में माधोपुरी (2010) में उनकी आत्मकथा में तर्क दिया है कि ग्रामीण पंजाब में प्रत्येक जाति के लिए पानी के स्रोत अलग-अलग थे। इसी तरह, दलितों की आत्मकथाओं की एक श्रंखला ने मौजूदा शोषण, बहिष्कार और अवमानना को उजागर करने की भी कोशिश की है, जिससे गाँव की व्यवस्था में दलित आज भी पीड़ित हैं (वाल्मीकि 2003, जाधव 2003, बेचैन 2009, तुलसी राम 2010)। अतः दलित परिप्रेक्ष्य सवाल उठाता है कि तथाकथित मुख्यधारा के समाजशास्त्रियों और दलितों के बीच इस तरह का अंतर क्यों था। इसका जवाब तलाशना कठिन नहीं है। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि वे अपना अध्ययन करते समय दलित इलाकों में नहीं रहे, जैसे—

चमारुत्ति, महारवाड़ा, मदीगावाड़ा, या चेरी, ये केवल कुछ ही नाम हैं, बल्कि उच्च जाति के आवास क्षेत्रों में रहे और इसलिए वे दलित परिप्रेक्ष्य से भारतीय गांव नहीं देख सकें (परवथम्मा (1978), राम (1995), दहीवाले (संस्करण) (2005), रेज (2006), ओमन (2007)।

### 8.5.3 दलित समाज को समझने के लिए एक रूपरेखा के रूप में दलित परिप्रेक्ष्य

दलित परिप्रेक्ष्य हमें दलित समाज को एक समग्र रूप में समझने के लिए तीन व्यापक पहलुओं से अवगत कराता है:

- क) दलित महिलाओं, दलित युवकों, दलित आइकन, दलित प्रवासी आदि जैसी आंतरिक सामाजिक श्रेणियों के माध्यम से दलितों को समझना।
- ख) दलितों को जाति धर्म, राजनीतिक दलों, गैर सरकारी संगठनों और साहित्य जैसे संस्थानों के माध्यम से दलितों को समझना।
- ग) दलितों को विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा समझना जैसे उनके आंदोलनों के विभिन्न रूपों से, आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं के माध्यम से समझना।

दलित परिप्रेक्ष्य यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि दलित महिलाओं का लिंग, वर्ग और जाति के आधार पर तिहरा शोषण किया जाता है। यह उन्हें सामान्य जाति की महिलाओं से अलग करता है, जिनका शोषण केवल लिंग और वर्ग के आधार पर किया जाता है (रेगे, कुमार)। दलित महिलाएं उनके बारे में प्रचलित रूढ़िवादी विचारों के आधार पर तथाकथित उच्च जाति की महिलाओं से भिन्न हैं, उन्हें दाई (दाइयों), देवदासियों (मंदिर सेविकाओं), और डायनों (चुड़ैलों) की संज्ञा दी जाती है। वे उच्च जाति के पुरुषों के हाथों यौन हिंसा के पीड़ित को झेलने के कारण वे अन्य महिलाओं से भिन्न हैं। दलित परिप्रेक्ष्य इस बात को दोहराता है कि तथाकथित उच्च जाति द्वारा दलित महिलाओं का यौन उत्पीड़न एक ऐसा कार्य है जो जातिगत संरचना में दलित महिलाओं की स्थिति से प्रेरित है। इसके चार कारण हैं: पहला, हालाँकि दलितों को अस्पृश्य माना जाता है लेकिन दलित महिलाएँ स्पृश्य हो जाती हैं। दूसरा, कई अवसरों पर दलित महिलाओं का बलात्कार एक सामूहिक गतिविधि है। तीसरा, यह एक जातिगत कृत्य है क्योंकि तथाकथित उच्च जातियों द्वारा हिंसा की जाती है जब भी वे दलित इलाकों पर हमला करते हैं। ऐसी हिंसा के दौरान, दलित महिलाओं की उम्र भी अपराधी को इस तरह के जघन्य अपराध करने के लिए नहीं रोकती है। पांचवां, ऐसे यौन कृत्य उस समय किए जाते हैं जब दलित अपने वैध संवैधानिक अधिकारों के लिए दावा करते हैं। छठा, वे समग्र रूप से समुदाय के सदस्यों के मनोबल को गिराने के लिए भी प्रतिबद्ध हैं। यह स्पष्ट करता है कि एक अखंड समग्र के रूप में न तो भारतीय महिलाओं को और न ही दलित समाज को समझा जा सकता है।

इसी प्रकार से दलित और सामान्य जाति के युवाओं के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर है जो कि 'घायल मानसिकता' का प्रकार है जिसके साथ दलित युवा जीते और पलते हैं। उनकी समझ उनके पड़ोस में रहने वाले अपने सहकर्मी समूह या उन अनौपचारिक या औपचारिक संस्थानों जिनके सदस्य होते हैं के हाथों किये जाने वाले व्यवहार के कारण जिसे उन्हें भुगतना पड़ता है से विकसित होती है। उनके तथाकथित उच्च जाति के साथियों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले उपनामों जैसे सरकारी दामाद, कीटा स्टूडेंट्स, सोनार चंद के द्वारा उनका उपहास किया जाता है और लड़कियों से पूछा जाता है कि क्या वे कोठा (वेश्यालय) या फिर कोठा के माध्यम से आयी हैं (कुमार, 2016 ए)।

इसके अलावा, दलित परिप्रेक्ष्य दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों से संबंध रखने वाले आदर्श व्यक्तियों जैसे ज्योतिबा फुले, नारायण गुरु, ई.वी. रामासामी पेरियार, शाहूजी महाराज और दलित आदर्श जैसे रविदास, अंबेडकर या यहाँ तक के कांशीराम जैसे व्यक्तियों के लोप और न्युन्तावाद की प्रक्रिया को उजागर करता है। यह बाबासाहेब अंबेडकर जैसे दलित आदर्शों को केवल दलित मसीहा के रूप में संदर्भित करने की बजाय उनके न्युन्तावाद की प्रक्रिया को विखंडित करने की कोशिश भी करता है, यह उन्हें राष्ट्र निर्माता और आधुनिक भारत का वास्तुकार कहता है।

इसके अलावा, दलित परिप्रेक्ष्य (कुमार 2004, गुमान 2011) सफलतापूर्वक प्रदर्शित करता है कि दलित प्रवासी ने अपने समारोहों और संगठनों की मदद से एक अलग समुदाय के रूप में खुद को स्थापित कर लिया है। उन्होंने बुद्ध विहारों, और रविदासी मंदिरों की स्थापना के माध्यम से बुद्ध, रविदास और अंबेडकर जैसे अपने आदर्श स्थापित किए। उन्होंने बाबासाहेब अंबेडकर की मूर्ति विश्वविद्यालयों जैसे- लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स, कोलंबिया यूनिवर्सिटी, मैसाचुसेट्स, ब्रांडीज यूनिवर्सिटी, साइमन-फ्रेजर यूनिवर्सिटी, कनाडा में यॉर्क यूनिवर्सिटी, ऑस्ट्रेलिया में मेलबर्न यूनिवर्सिटी और जापान में कोयासन यूनिवर्सिटी में स्थापित कराई है। दलितों ने अपने दत्तक देशों के स्थानीय समूहों और भारतीय वाणिज्य दूतावास के साथ गठजोड़ करके अपने आदर्शों के जन्म और मृत्यु की वर्षगाँठों पर उत्सव मानना और स्मरण करना शुरू कर दिया है। दलित प्रवासी ने मानवाधिकारों के उल्लंघन के मुद्दे को भी अपने मेजबान देशों की अपनी सरकारों के साथ उजागर किया है।

दलित परिप्रेक्ष्य हमें जातियों की प्रकृति और विशेषताओं के बारे में गहराई से किसी समझन पर पहुँचने में मदद करता है जो मुख्यधारा के सामाजिक वैज्ञानिकों के विश्लेषण में उपलब्ध नहीं है। उदाहरण के लिए, अंबेडकर (1979) ने जाति की उत्पत्ति के अधिकांश सिद्धांतों और उसकी विशेषताओं का भी खंडन किया है। उन्होंने जाति के जातिगत सिद्धांत के साथ-साथ जाति के व्यावसायिक सिद्धांत का खंडन किया। अंबेडकर (1979) जाति व्यवस्था के भीतर पदानुक्रम की सरल समझ का भी खंडन करते हैं। इसके बजाय, अंबेडकर (1979) ने स्वीकार किया कि केवल सगोत्र-विवाह ही जाति की वास्तविक विशेषताएं हैं।

इसके अलावा, उनके अनुसार जाति कोई साधारण श्रम विभाजन नहीं है बल्कि यह श्रमिकों का भी विभाजन है। जाति व्यवस्था व्यवसाय के चयन की किसी भी स्वतंत्रता के बिना एक समूह में किसी व्यक्ति के जन्म पर आधारित है। इसके अतिरिक्त, यह अस्पृश्यता और वंशानुगतता के साथ सांगत करती है। इसके अलावा अंबेडकर पदानुक्रम के स्थान पर असमानता शब्द का उपयोग करते हैं। तदनुसार, उन्होंने तर्क दिया है कि पदानुक्रम की प्रणाली एक कमजोर प्रणाली है जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि एक जाति को उसके विशेषाधिकारों के साथ दूसरी जाति के ऊपर रखा गया है। इसके बजाय, वे 'श्रेणीबद्ध असमानता' के सिद्धांत को संदर्भित करते हैं। श्रेणीबद्ध असमानता में कम से कम पांच वर्ग हैं— उच्चतम, उच्चतर, उच्च, निम्न और निम्नतम। इस प्रणाली में, सबसे निम्नतम को छोड़कर, कोई भी वर्ग नहीं है जो सबसे अधिक ज़रूरतमंद है। इसलिए, विशेषाधिकार प्राप्त प्रत्येक वर्ग जाति व्यवस्था को खत्म करने के बजाय उसे बनाए रखने में दिलचस्पी रखते हैं। अंत में, निराकार ईश्वर के संतों – रविदास और कबीर की मौखिक गवाही की सहायता के साथ दलित परिप्रेक्ष्य भी इस बात का खंडन करता है कि जाति एक औपनिवेशिक रचना है (कुमार 2014.)। दलित परिप्रेक्ष्य इस बात पर जोर देता है कि जाति व्यवस्था औपनिवेशिक काल से कहीं पहले से मौजूद थी।

दलित आदि-हिंदू, आदि-द्रविड़, आदि-आंध्र और आदि-कर्नाटक जैसी श्रेणियों का दावा करते हैं वे यह भी दावा करते हैं कि वे इस भूमि के मूल निवासी रहे हैं और आर्य बाहर से आए और उन्हें उनको अपने अधीन किया। वे हिंदू धर्म से अपने बहिष्कार को स्पष्ट करने के लिए तीन कारण देते हैं। एक, उन्होंने निराकार ईश्वर के प्रति निष्ठा के साथ भक्ति आंदोलन-जैसे रविदासी या कबीरपंथी आंदोलन चलाया था। दो, उन्होंने अपनी निष्ठा को गैर-हिंदू धर्मों में स्थानांतरित कर दिया। वे सिख धर्म में परिवर्तित हो गए (ज्यर्गसमेयर : 1982 और वेबस्टर, सी बी जॉन, 2002) जिसका मूल उद्गम स्वदेशी था और इस्लाम और ईसाई धर्म जिसका मूल विदेशी था। 1956 में अंबेडकर के बौद्ध धर्म में परिवर्तन के बाद एक तीसरा चलन उभरा जब पांच लाख दलितों ने नागपुर में बौद्ध धर्म में धर्मांतरण किया। तब से दलित बौद्ध धर्म को अपना धर्म मानते आ रहे हैं (कांटोवस्की, 2003)। हालाँकि, यह एक तथ्य है कि लाखों दलित अपने स्थानीय देवताओं की भी पूजा करते हैं जो भगवान के हिंदू मंडप का हिस्सा नहीं हैं।

1960 के दशक में दलित युवाओं ने अपने अनुभवों को प्रसारित करने के लिए कविताएँ, लघु कथाएँ, नाटक और अन्य प्रकार के रचनात्मक लेखन शुरू किए और दलित साहित्य दलित आंदोलन के हिस्से के रूप में विकसित हुआ। उन्होंने पत्रिकाओं और पुस्तिकाओं का प्रकाशन शुरू किया और दलित लेखकों के सम्मेलन आयोजित किए। दलित अभिनेताओं द्वारा यह स्वीकार किया गया कि वे बाबासाहेब अम्बेडकर की दृष्टि और समझ के द्वारा निर्देशित हैं। दलित आत्मकथाओं को दलित साहित्य की सबसे प्रभावी और दलित जीवन को समझने के लिए रूपक-कथाओं के रूप में देखा जाता था। ये मौजूदा सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक वास्तविकताओं को खंडित किया जैसा की मुख्यधारा के समाजशास्त्रियों द्वारा दर्शाया गया है (कुमार 2010 ए, और 2010 बी)।

दलित अपने राजनीतिक दलों को नेतृत्व, विचारधारा और सदस्यता के दृष्टिकोण से देखते हैं (गोखले 1993)। कुमार (2002) दलित राजनीतिक नेतृत्व को आश्रित और स्वतंत्र नेतृत्व में विभाजित करते हैं। अधिकांश दलों का नेतृत्व स्वयं दलितों द्वारा किया जाता है, कुछ एक के उदाहरण स्वरूप – जैसे स्वतंत्र लेबर पार्टी (IPL), अनुसूचित जाति फेडरेशन (SCF), रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़, इंडिया (RPI), दलित पेंथर्स (DP), बहुजन समाज पार्टी (BSP), लोक जनशक्ति पार्टी (CJP)। उनका अपना एजेंडा है जो उन्हें मुख्यधारा के राजनीतिक दलों से अलग करता है। देश के सबसे अधिक आबादी वाले राज्य (उत्तर प्रदेश) में सत्ता पर कब्जा करने वाले दलित राजनीतिक दलों में बसपा सबसे सफल रही है और आज यह दलितों की एक राष्ट्रीय पार्टी है। बसपा ने पूर्ववर्ती बहिष्कृत समुदायों को प्रतिनिधित्व देकर भारतीय लोकतंत्र को मजबूत किया है (कुमार 2006, कुमार 2007)। जहां तक दलित गैर सरकारी संगठनों का सवाल है, यह ध्यान में रखना दिलचस्प है कि वैश्वीकरण के आगमन के बाद वे अधिक प्रकाश में आने लगे हैं और संयुक्त राष्ट्र या यूरोपीय या एशियाई सामाजिक मंचों जैसे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर दलितों के मानवाधिकार के मुद्दों को उठाना शुरू कर दिया है (सच्चिदानंद, 2001)।

दलित परिप्रेक्ष्य दलित आन्दोलनों के निर्देश के तहत सामूहिक प्रक्रियाओं के विभिन्न रूपों की पहचान करने की आवश्यकता को दोहराता है। यह तर्क देता है कि दलितों द्वारा कम से कम आठ प्रकार के आंदोलनों का आयोजन किया जाता है। ये आंदोलन हैं: (1) सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन, (2) राजनीतिक आंदोलन, (3) दलित साहित्यिक और बौद्धिक आंदोलन, (4) दलित कर्मचारी आंदोलन, (5) दलित एनजीओ का आंदोलन, (6) दलित महिला आंदोलन, (7) दलित मीडिया आंदोलन, (8) दलित प्रवासी आंदोलन (राम 1999, कुमार, 2010 ए)।

दलितों ने आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया के प्रति भी अनुकूलता दिखाई है (कुमार, 2007 बी)। जहां तक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का संबंध है, यह औपनिवेशिक काल के दौरान आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के साथ शुरू हुआ। आधुनिकीकरण की अम्बेडकर प्रक्रिया का अर्थ समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और सामाजिक न्याय के मूल्यों की स्थापना था। इसमें तत्कालीन बहिष्कृत समुदायों के लिए संवैधानिक अधिकारों की स्थापना के साथ राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया भी शामिल थी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, दलितों ने आरक्षण की प्रक्रिया के साथ नौकरशाही, शिक्षा और राजनीति जैसे आधुनिक संस्थानों में प्रवेश करने की कोशिश की। उन्होंने अपने संवैधानिक अधिकारों का उल्लेख करते हुए शिक्षा, उत्पादन और शासन की संस्था में अपने आत्म-प्रतिनिधित्व की भी मांग की। 1990 के दशक के बाद, दलितों ने वैश्वीकरण की प्रक्रिया के साथ भी समझोता करने की कोशिश की है। एक ओर दलित परिप्रेक्ष्य इस बात पर जोर देता है कि इसके उदारीकरण और निजीकरण और अनौपचारिक क्रांति के साथ प्रक्रिया करना भी दलितों के लिए हानिकारक है। निजी क्षेत्र के उद्योग और यहां तक कि विश्वविद्यालय और व्यवसायिक कॉलेज भी दलितों को आरक्षण नहीं देते हैं और न ही बहुराष्ट्रीय कंपनियां देती हैं (जोगदंड 1991)। जहां तक वैश्वीकरण के एक भाग के रूप में सूचना क्रांति का सवाल है, दलितों ने ई-मेल, इंटरनेट, यू ट्यूब, फेसबुक और ट्विटर की मदद से इसका इस्तेमाल खुद को विश्व स्तर पर जोड़ने के लिए किया है। एनएचआरसी आदि जैसे मानवाधिकार संस्थानों द्वारा अर्जित की गई नई भूमिका के कारण उन्हें भी लाभ हुआ है।

### बोध प्रश्न 1

क) दलित शब्द को परिभाषित करें और दलितों से संबंधित विभिन्न प्रकार के बहिष्करण का पता लगाएं।

.....

.....

.....

.....

ख) दलित परिप्रेक्ष्य के सैद्धांतिक तर्काधार पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

ग) आप दलित परिप्रेक्ष्य से क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

घ) दलितों के विषय में मौजूदा वास्तविकता और पुस्तक अवलोकन की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

## 8.6 सारांश

निष्कर्ष में, हम तर्क दे सकते हैं कि दलित परिप्रेक्ष्य समाज को अनुभवजन्य रूप से समझने के लिए एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। यह परिप्रेक्ष्य उन लाखों दलितों के विचारों और अनुभवों से उभरता है, जिनकी समाज में विशेष संरचनात्मक स्थिति है और उनकी चेतना भिन्न प्रकार के बहिष्करण के लंबे इतिहास द्वारा आकार पाती है। दलित परिप्रेक्ष्य कई सामाजिक वैज्ञानिकों के कथन द्वारा अपनी स्थिति को मजबूत पता है, विशेष रूप से सी.डब्ल्यू. मिल्स की समाजशास्त्रीय कल्पना के तीन निर्देशांक की संज्ञा के द्वारा उदाहरण के लिए जीवनी, इतिहास और समाज में उनका परस्पर संबंध। यह पी. बोर्डो की सांस्कृतिक और सामाजिक पूंजी की अवधारणाओं से भी अपनी स्थिति को मजबूत बनाता है। इस परिप्रेक्ष्य में चार विशिष्ट कार्य हैं, पहला, यह सामान्य रूप से भारतीय समाज के बारे में और विशेष रूप से दलितों के विषय में पुस्तकीय दृष्टिकोण और क्षेत्र-दृष्टिकोण को समझने और विश्लेषण करने का प्रयास करता है। दूसरे, यह समालोचनात्मक रूप से भारतीय समाज को समग्र रूप में देखने के विषय में मुख्यधारा के समाजशास्त्रियों के विचारों को समझने की कोशिश करता है। तीसरा, यह सामान्य रूप से समाज और सामाजिक संस्थाओं के विषय में भी प्रतिबिंबित करता है। अंतिम लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि दलित परिप्रेक्ष्य हमें दलित समुदाय के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक पहलुओं को समझने के लिए एक व्यापक ढांचा प्रदान करता है। उदाहरण के लिए, यह हमें दलितों की आंतरिक सामाजिक श्रेणियों जैसे- दलित महिला, दलित युवक, दलित आदर्शों या दलित प्रवासी के विषय में अंतरदृष्टि प्रदान करता है। यह जाति, गांव, धर्म या साहित्य जैसी संस्थाओं को प्रतिबिंबित करने की कोशिश करता है। दलित परिप्रेक्ष्य दलित आंदोलनों के विभिन्न रूपों जैसी प्रक्रियाओं और आधुनिकीकरण और भूमंडलीकरण जैसी प्रक्रियाओं के साथ उनकी व्यस्तताओं को समझने में मदद करता है। कुल मिलाकर, इस परिप्रेक्ष्य ने भारतीय समाजशास्त्र के विषयों में और अधिक कठोरता ला दी है जो इसकी बहुत अधिक प्रतिनिधित्वकारी नहीं रही है (कुमार, 2016 बी)। सामाजिक वास्तविकता को समझने के लिए हमें विभिन्न बिंदु प्रदान करके इसने स्थापित अवधारणाओं पर सवाल उठाया है और सामान्य रूप से भारतीय समाज और दलित समुदाय के बारे में विशेष रूप से अनेकों स्थापित धारणा खंडित किया है।

## 8.7 संदर्भ

Ambedkar, B.R. (1979). *Caste Genesis, its Mechanism and Spread, in Ambedkar Writing and Speeches*, Vol. 1. Mumbai: Education Department, Government of Maharashtra.

....., (1989). *The Indian Ghetto — The Centre of Untouchability in Babasaheb Ambedkar Writing and Speeches*, Vol. 5. Mumbai: Education Department, Government of Maharashtra.

Arun, Joe. (2007). *Constructing Dalit Identity*. New Delhi: Rawat Publications.

Beteille, Andre. (1971). *Caste, Class, and Power: Changing Patterns of Stratification in Tanjore Village*. Berkley: University of California Press.

Bourdieu, P. (1986). The Forms of Capital. In Richardson J. (ed.), *Handbook of Theory and Research for the Sociology of Education*. Westport, CT, Greenwood (pp. 241-58).

- Burger, Peter & Luckmann, Thomas. (1967). *The Social Construction of Reality: A Treatise in the Sociology of Knowledge*. New York:Anchor Books.
- Dahiwale, S.M. (ed.). (2005). *Understanding Indian Society: The Non- Brahmanic Perspective*. New Delhi: Rawat Publications.
- Dumont, Louis. (1999). *Homo Hierarchicus: The Caste System and Its Implications*, New Delhi, Oxford University Press.
- Freir, Paulo. (1970). *Pedagogy of the Oppressed*. New Delhi: Penguin Books.
- Ghuman, Paul. (2011). *British Untouchables: A Study of Dalit Identity and Education*. England: ASHGATE.
- Ghurye, G.S. (1963). *The Scheduled Tribes*. Bombay (Now Mumbai): Popular Prakashan.
- Gokhale, Jayashree. (1993). *From Concessions to Confrontation: The Politics of an Untouchable Community*. Mumbai: Popular Prakashan.
- Jadhav, Narendra. (2003). *Out Caste: A Memoir*. New Delhi: Viking,
- Jogdand, P.G. (1991). *Dalit Movement in Maharashtra*. New Delhi: Kanak Publications.
- Juergensmeyer, Mark. (1982). *Religion as Social Vision: The Movement against Untouchability 20<sup>th</sup> Century Punjab*. Berkeley: University of California Press.
- Kantowsky, Detlef. (2003). *Buddhists in India Today: Descriptions, Pictures and Documents*. New Delhi: Manohar Publishers.
- Kumar, Raj. (2010a). *Dalit Personal Narratives: Reading Caste, Nation and Identity*. New Delhi: Orient Blackswan.
- ....., (2010b). Dalit Literature: A Perspective from Below. In Imtiaj Ahmad & Shashi Bhushan Upadhyay (eds.) (pages 129-141). New Delhi: Orient Blackswan.
- Kumar, Vivek. (2002). *Dalit Leadership in India*. New Delhi: Kalpaz Publication.
- ....., (2003b). Dalit Movement and Dalit International Conferences. *Economic and Political Weekly*, Vol. XXXVIII, No. 27, July 5-11, Mumbai.
- ....., (2004). Understanding Dalit Diaspora. *Economic and Political Weekly*, Vol. XXXI X, No. 1, January 3-9, Mumbai.
- ....., (2005). Situating Dalits in Indian Sociology. *Sociological Bulletin* (Special Issue of South Asia: The State of Sociology, Issues of Relevance and Rigour), Volume 54, Number 3, September-December, New Delhi.
- ....., (2006). *India's Roaring Revolution: Dalit Assertion and New Horizons*. New Delhi: Gagan Deep Publications,
- ....., (2007a). Bahujan Samaj Party: Some Issues of Democracy and Governance. In Sudha Pai (ed.), *Political Process in Uttar Pradesh: Identity, Economic Reform and Governance*. Delhi: Pearson Longman.

- ....., (2007b). Governance and Development in the Era of Globalization: Understanding Exclusion and Assertion of Dalits in India. In Kameshwar Chaudhary (ed.), *Globalization, Governance Reform and Development in India*. India: Sage Publication.
- ....., (2009a). Locating Dalit Women in the Indian Caste System, Media and Women's Movement. *Social Change* (Journal of the Council for Social Development), Vol. 39, 1<sup>st</sup> Number, March 2009.
- ....., (2010a). Different shades of Dalit mobilization. In T.K. Oommen (ed.), *Social Movements I: Issues of Identities*. New Delhi: Oxford University Press.
- ....., (2010b). Teaching Caste and the Hindu Social Order: Dalits in Indian Sociology. In Maitrayee Chaudhuri (ed.), *Sociology in India: Intellectual and Institutional Practices*. New Delhi: Rawat Publications.
- ....., (2014). *Caste and Democracy in India: A perspective From Below*. New Delhi: Gyan Publications.
- ....., (2016a). Discrimination on Campuses of Higher Learning: A perspective from Below. *Economic and Political Weekly*, Vol. 51, Issue No. 6, 06 Feb, 2016.
- ....., (2016b). How Egalitarian is Indian Sociology. *Economic and Political Weekly*, Vol. 51, No.25, 18 June. Mumbai.
- Lynch, Owen, M. 1974. *The Politics of Untouchability*. Delhi: National Publishing House.
- Madhopuri, Balbir. (2010). *Changiya Rukh: Against the Night— An Autobiography* (Translated from Punjabi). New Delhi: Oxford University Press.
- Mani, Braj Ranjan. (2005). *Debrahmanising History*. New Delhi: Manohar.
- Mathur, K.S. (1991). Hindus Values of Life: Karma and Dharma. In T.N. Madan (ed.), *Religion in India*. New Delhi: Oxford University Press.
- Mills, C. Wright. (1957). *The Sociological Imagination*. New York: Oxford University Press.
- Moon, Meenakshi and Powar, Parmil. (2003). Dalit Women, Difference & Dalit Women's Movements. In Anupama Rao (ed.), *Caste & Gender*. New Delhi: Kali for Women.
- Murugkar, Lata. (1991). *Dalit Panthers Movement in Maharashtra: A Sociological Appraisal*. Bombay: Popular Prakashan.
- Omvedt, Gail. (1994). *Dalits and the Democratic Revolution: Dr. Ambedkar and the Dalit movement in Colonial India*. New Delhi: Sage Publications.
- Oommen, T. K. (1990). *Protest and Change: Studies in Social Movements*. New Delhi: Sage Publications.
- ....., (2008). B.R. Ambedkar and the Reorganization of Indian States: Critical Appreciation. In Nandu Ram (ed.), *Ambedkar, Dalits and Buddhism: Collection of Dr. Ambedkar Memorial Annual Lectures*. Dr. B.R. Ambedkar Chair in Sociology, Jawaharlal Nehru University, New Delhi & Delhi: Manak Publications Pvt. Ltd.



- ....., (2007). *Knowledge and Society: Situating Sociology and Social Anthropology*. New Delhi: Oxford University Press.
- Parvathamma, C. (1978). The Remembered Village: A Brahmanical Odyssey. *Contributions to Indian Sociology*, Vol. 12, No. 1 (pp 91-96).
- Racine, Jean-Luc & Rancine, Josiane. (2005). *Viramma: Life of a Dalit*. New Delhi: Social Science Press.
- Ram, Nandu. 1995 (2010). *Beyond Ambedkar: Essays on Dalits in India*. New Delhi: Har Anand Publications.
- ....., (1999). Dalit Movement in India: A Macro-Sociological Analysis. In Anand Kumar (ed.), *Nation Building India: Culture Power and Society*. New Delhi: Radiant Publishers.
- Ramaiah A. (2010). Social Democracy in Indian Villages: The Experience of Dalits in Southern Tamil Nadu. In Imtiaz Ahmad and Shashi Bhushan Upadhyay (eds.), *Dalit Assertion in Society, Literature and History*. New Delhi: Orient Blackswan.
- Reddy, Shiva Venka G. (2002). Competition and Conflict among the Dalits: Madiga Dandora Movement in Andhra Pradesh. In Ghanshyam Shah (ed.), *Dalits and the State*. New Delhi: Concept Publishing House.
- Rege, Sharmila. (2006). *As Pedagogical Practice: Claiming More than Just a Little Place in the Academia*. Chennai: Madras Institute of Development Studies.
- Sachchidananda. (2001). Voluntary Action for Social Development and Empowering the Marginalised in Bihar. In Debal K. Singharoy (ed.), *Social Development and the Empowerment of Marginalised Groups: Perspectives and Strategies*. New Delhi: Sage Publications.
- Singh, Y. (1986). *Indian Sociology: Social Conditioning and Emerging Concerns*. New Delhi: Vistar Publications.
- Srinivas, M.N. et al (2006). *The Fieldworker and the Field*. New Delhi: Oxford University Press.
- Srinivas, M. N. (1978). Social Structure of a Mysore Village. In M. N. Srinivas (ed.), *India's Villages*. Bombay (Mumbai): Media Promoters & Publishers PVT. LTD.
- Valmiki, Omprakash. (2003). *Joothan: A Dalit's Life*. (Translated from Hindi-Joothan), Kolkata: Samay.
- Vijaisri, Priyadarshini. (2004). *Recasting the Devadasi: Patterns of Sacred Prostitution in Colonial South India*. New Delhi: Kanishka Publishers.
- Webster, C.B. John. (2002). *Religion and Dalit Liberation: An Examination of Perspectives*, New Delhi: Manohar Publication.
- Yagati, Chinna, Rao. (2003). *Dalits' Struggle for Identity*. New Delhi: Kanishka Publishers.